



ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)

3049-2327(Print)

IIFS Impact Factor-2.25

Vol.-2; Issue-3 (July-Sept.) 2025

Page No.- 301-310

©2025 Gyanvividha

<https://journal.gyanvividha.com>

Dr. Bharti Kumari

Dept. of Sociology,
Magadh University,
Bodh Gaya.

Corresponding Author :

Dr. Bharti Kumari

Dept. of Sociology,
Magadh University,
Bodh Gaya.

जाति व्यवस्था का बदलता स्वरूप : वैश्वीकरण और शहरीकरण के संदर्भ में एक अध्ययन

सार : भारतीय समाज की संरचना में जाति व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पारंपरिक रूप से यह व्यवस्था जन्म और पेशागत विभाजन पर आधारित थी, जिसने समाज को एक ओर संगठित किया तो दूसरी ओर गहरी असमानताओं को भी जन्म दिया। वैश्वीकरण और शहरीकरण की प्रक्रियाओं ने इस पारंपरिक व्यवस्था को कई स्तरों पर प्रभावित किया है। आर्थिक उदारीकरण, शिक्षा का प्रसार, मीडिया का प्रभाव और नगरीय जीवन ने जाति-आधारित पेशागत संरचनाओं और सामाजिक नियंत्रण को कमजोर किया है। फिर भी जाति पूरी तरह समाप्त नहीं हुई, बल्कि उसने राजनीति, विवाह, नेटवर्किंग और सांस्कृतिक पहचान में नए रूप ग्रहण किए हैं। इस अध्ययन का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि वैश्वीकरण और शहरीकरण की पृष्ठभूमि में जाति व्यवस्था किस प्रकार परिवर्तित हुई है, और आज भी भारतीय समाज में उसकी प्रासंगिकता किस रूप में बनी हुई है।

मुख्य शब्द: जाति व्यवस्था, वैश्वीकरण, शहरीकरण, सामाजिक गतिशीलता, भारतीय समाज, जातिगत पहचान, राजनीति, सामाजिक परिवर्तन।

भूमिका : भारतीय समाज का सबसे जटिल और चर्चित पहलू जाति व्यवस्था रही है। यह केवल सामाजिक संगठन का आधार नहीं रही, बल्कि इसने राजनीतिक शक्ति-संरचना, सांस्कृतिक धारणाओं और आर्थिक संबंधों को भी गहराई से प्रभावित किया है। परंपरागत दृष्टि से जाति व्यवस्था जन्म पर आधारित सामाजिक श्रेणीकरण (ascribed status system) रही है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक स्थान उसके जन्म से निर्धारित होता था। इसमें पेशेगत विभाजन, ऊँच-नीच की श्रेणियाँ और अस्पृश्यता जैसी व्यवस्थाएँ निहित थीं। डॉ. बी. आर.

आंबेडकर ने इसे भारतीय समाज का “सबसे कठोर और अमानवीय ढाँचा” कहा था (Ambedkar 1936, p. 23)।

इतिहास में जाति व्यवस्था के स्थायित्व और प्रभावशीलता के कई कारण बताए गए हैं। एक ओर यह धार्मिक मान्यताओं और शास्त्रीय व्याख्याओं द्वारा वैधता प्राप्त करती रही, तो दूसरी ओर ग्रामीण जीवन की आत्मनिर्भर संरचना ने इसे बनाए रखा। एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार, “ग्रामीण भारत में जाति केवल सामाजिक वर्गीकरण का ढाँचा नहीं थी, बल्कि यह शक्ति, प्रतिष्ठा और संसाधनों के वितरण की मूल इकाई भी थी” (Srinivas 1966, p. 45)।

हालाँकि, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में सामाजिक सुधार आंदोलनों, शिक्षा के प्रसार और राष्ट्रवादी राजनीति ने जाति व्यवस्था को चुनौती दी। महात्मा गांधी, ज्योतिबा फुले, आंबेडकर और पेरियार जैसे नेताओं ने इसके विरुद्ध व्यापक आंदोलन चलाए। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता को समाप्त करने और समानता को स्थापित करने का प्रावधान किया। इसके बावजूद, जाति व्यवस्था का प्रभाव पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में दो बड़े परिवर्तन हुए—वैश्वीकरण और शहरीकरण। 1991 के आर्थिक उदारीकरण के बाद भारतीय समाज तेजी से वैश्विक अर्थव्यवस्था से जुड़ा। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आगमन, आईटी और सेवा क्षेत्र का विस्तार, और शिक्षा में निजीकरण ने रोजगार और सामाजिक गतिशीलता के नए अवसर पैदा किए। दीपांकर गुप्ता के अनुसार, “वैश्वीकरण ने जातिगत पेशागत बाध्यताओं को कमजोर किया, किंतु इसने जाति को राजनीति और पहचान की राजनीति के नए रूपों में जीवित रखा” (Gupta 2000, p. 78)।

इसी तरह, शहरीकरण की प्रक्रिया ने भी भारतीय समाज को गहराई से प्रभावित किया। गाँवों से शहरों की ओर बड़े पैमाने पर पलायन ने जातिगत

संबंधों की पारंपरिक संरचना को चुनौती दी। नगर जीवन में जाति का प्रत्यक्ष नियंत्रण कमजोर हुआ, और अंतर्जातीय संपर्क तथा विवाह की संभावनाएँ बढ़ीं। परंतु यह मानना भी सरल नहीं है कि शहरी समाज पूरी तरह “जाति-मुक्त” हो गया है। योगेन्द्र यादव के शब्दों में, “भारतीय लोकतंत्र में जाति न केवल बनी हुई है, बल्कि उसने आधुनिक राजनीति की भाषा में खुद को अनुकूलित कर लिया है” (Yadav 2001, p. 4125)। इस प्रकार, वर्तमान संदर्भ में जाति व्यवस्था को समझना केवल सामाजिक संस्था के रूप में पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसे वैश्विक अर्थव्यवस्था, शहरी जीवन और लोकतांत्रिक राजनीति के संगम पर देखने की आवश्यकता है। यही इस शोध-पत्र का मुख्य उद्देश्य है—यह समझना कि वैश्वीकरण और शहरीकरण ने जाति व्यवस्था के पारंपरिक स्वरूप को किस हद तक बदला है, और यह भारतीय समाज में किस नए रूप में उभर रही है।

अध्ययन के उद्देश्य : जाति व्यवस्था पर पहले भी असंख्य अध्ययन हुए हैं, किंतु वैश्वीकरण और शहरीकरण के संदर्भ में इसका स्वरूप निरंतर बदल रहा है। इस पृष्ठभूमि में इस शोध-पत्र के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. जाति व्यवस्था की पारंपरिक संरचना और उसके प्रमुख लक्षणों को रेखांकित करना।
2. यह विश्लेषण करना कि वैश्वीकरण ने जातिगत संबंधों और पेशागत विभाजन को किस सीमा तक बदला है।
3. शहरीकरण की प्रक्रिया के कारण सामाजिक गतिशीलता (social mobility) और जातिगत पहचान में आए परिवर्तनों का अध्ययन करना।
4. यह देखना कि क्या जाति व्यवस्था शहरी और वैश्विक परिप्रेक्ष्य में कमजोर हो रही है या नए रूप में उभर रही है।
5. भारतीय राजनीति, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर जाति व्यवस्था के बदलते स्वरूप के प्रभावों का मूल्यांकन करना।

इन उद्देश्यों का निर्धारण इस धारणा के साथ किया गया है कि जाति व्यवस्था केवल परंपरागत सामाजिक संस्था नहीं है, बल्कि यह आधुनिक लोकतंत्र और अर्थव्यवस्था में भी पुनर्परिभाषित हो रही है।

शोध कार्यप्रणाली : इस शोध-पत्र का स्वरूप सैद्धांतिक (theoretical) और द्वितीयक स्रोतों पर आधारित (secondary data based) है।

1. स्रोत-सामग्री

- समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों और राजनीतिक चिंतकों के ग्रंथ, जैसे एम. एन. श्रीनिवास, आंद्रे बेटेय, गैल ओम्वेड्ट और दीपांकर गुप्ता के कार्य।
- शोध आलेख और जर्नल्स, विशेषकर Economic and Political Weekly तथा Sociological Bulletin जैसी पत्रिकाएँ।
- सरकारी रिपोर्टें (जैसे राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, जनगणना रिपोर्ट) और नीति-निर्धारण से जुड़ी दस्तावेज़।
- समाचार पत्र, ऑनलाइन रिपोर्ट और मीडिया विश्लेषण।

2. विश्लेषण की पद्धति

- गुणात्मक (Qualitative) दृष्टिकोण अपनाया गया है।
- तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method) का उपयोग किया गया है, जिसके अंतर्गत ग्रामीण बनाम शहरी समाज, और पारंपरिक बनाम वैश्वीकृत समाज के बीच जातिगत व्यवहार की तुलना की गई है।
- आलोचनात्मक विश्लेषण (Critical Analysis) के माध्यम से यह देखने का प्रयास किया गया है कि जाति किस प्रकार परिवर्तित हो रही है और किस रूप में कायम है।

3. सीमाएँ

- यह शोध प्रत्यक्ष सर्वेक्षण पर आधारित नहीं है, इसलिए इसमें प्राथमिक आँकड़ों की कमी है।

- अध्ययन का मुख्य फोकस शहरीकरण और वैश्वीकरण है, अतः ग्रामीण समाज की गहराई से विवेचना इसमें नहीं की गई है।

इस कार्यप्रणाली से प्राप्त निष्कर्ष हमें यह समझने में मदद करेंगे कि जाति व्यवस्था भारतीय समाज में आज किस प्रकार नई व्याख्याओं और नई चुनौतियों के साथ विद्यमान है।

जाति व्यवस्था: पारंपरिक परिप्रेक्ष्य : भारतीय समाज की सबसे विशिष्ट और विवादास्पद संस्था जाति व्यवस्था रही है। इसकी जड़ें प्राचीन भारत की सामाजिक-धार्मिक संरचना में गहराई से निहित हैं। मनुस्मृति और धर्मशास्त्रों में वर्ण व्यवस्था का उल्लेख मिलता है, जिसमें समाज को चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में बाँटा गया था। यह विभाजन मूलतः पेशागत आधार पर था, किंतु धीरे-धीरे यह जन्म-आधारित और कठोर सामाजिक ढाँचे में बदल गया। एम. एन. श्रीनिवास ने इसे “हेरिडिटरी डिवीज़न ऑफ लेबर” (hereditary division of labour) कहा है, जहाँ प्रत्येक जाति के लिए विशिष्ट कार्य निर्धारित था (Srinivas 1966, p. 12)।

1. जाति व्यवस्था की विशेषताएँ

1. **जन्म-आधारित स्थिति (Ascribed Status):** व्यक्ति की सामाजिक स्थिति जन्म से तय होती थी, और इसमें परिवर्तन की कोई संभावना नहीं थी।
2. **पेशागत विभाजन:** प्रत्येक जाति का पारंपरिक व्यवसाय तय था—ब्राह्मण अध्यापन और धार्मिक कार्य, क्षत्रिय शासन और युद्ध, वैश्य व्यापार और कृषि, तथा शूद्र सेवा कार्य।
3. **सामाजिक ऊँच-नीच:** जातियों में एक श्रेणीबद्धता (Hierarchy) मौजूद थी, जिसमें ब्राह्मण सर्वोच्च और अस्पृश्य जातियाँ सबसे नीचे मानी जाती थीं (Dumont 1970, p. 35)।
4. **एंडोगैमी (Endogamy):** विवाह केवल अपनी जाति के भीतर ही संभव था।

5. **सामाजिक गतिशीलता की कमी:** जाति व्यवस्था ने व्यक्ति की उन्नति के अवसर सीमित कर दिए थे।

6. **धार्मिक वैधता:** पुराण, स्मृतियाँ और धर्मशास्त्रों ने इसे धार्मिक आधार प्रदान किया।

2. जाति व्यवस्था और सामाजिक असमानता

जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को एक ओर स्थिरता दी, तो दूसरी ओर असमानता और दमन को भी जन्म दिया। डॉ. बी. आर. आंबेडकर ने इसे “मानवता के खिलाफ एक संगठित अपराध” बताया (Ambedkar 1936, p. 44)। अस्पृश्यता और जातिगत भेदभाव ने दलित और पिछड़े वर्गों को मुख्यधारा से अलग कर दिया।

3. ग्रामीण समाज में जाति का प्रभाव

ग्रामीण भारत में जाति व्यवस्था सबसे मजबूत रही है। आंद्रे बेटेय के अनुसार, “गाँव केवल आर्थिक इकाई नहीं है, बल्कि यह जाति संबंधों का जीवंत प्रयोगशाला है” (Béteille 1991, p. 76)। ग्रामीण समाज में सत्ता, प्रतिष्ठा और संसाधनों का वितरण जातिगत आधार पर ही होता था। यह ग्रामीण धरातल की वास्तविक सच्चाई है आज भी गांवों में जाति आधारित मोहल्ले बटे हुए हैं।

4. सामाजिक सुधार आंदोलनों का प्रभाव

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में जाति व्यवस्था को चुनौती देने वाले अनेक आंदोलन हुए।

- **ज्योतिबा फुले** ने शूद्रों और अति-शूद्रों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया।
- **पेरियार (ई. वी. रामासामी नायकर)** ने दक्षिण भारत में ब्राह्मणवादी प्रभुत्व को चुनौती दी।
- **गांधीजी** ने अस्पृश्यों को *हरिजन* कहकर उनके उत्थान का प्रयास किया।
- **आंबेडकर** ने दलितों के लिए शिक्षा, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और समान अधिकारों की माँग की।

1. आर्थिक प्रभाव

5. संवैधानिक और कानूनी प्रावधान

स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान ने जातिगत भेदभाव को समाप्त करने के लिए कई प्रावधान किए:

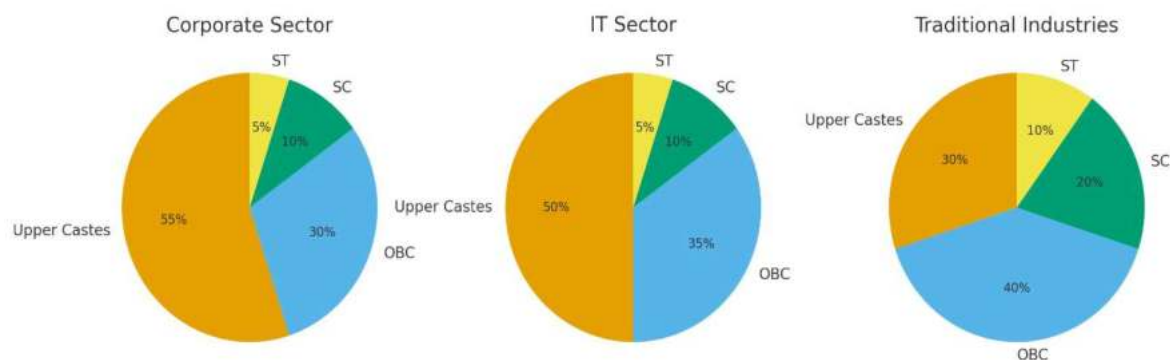
- अनुच्छेद 15 और 17 में भेदभाव और अस्पृश्यता पर रोक।
- आरक्षण नीति के माध्यम से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़े वर्गों को शिक्षा व नौकरियों में अवसर।
- समानता और सामाजिक न्याय को संवैधानिक मूल्य के रूप में स्थापित किया गया (Austin 1999, p. 63)

स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था का पारंपरिक रूप जन्म, पेशा और धार्मिक वैधता पर आधारित कठोर संरचना थी। इसने जहाँ समाज को संगठित किया, वहीं असमानता और भेदभाव को भी स्थायी बना दिया। सुधार आंदोलनों और संवैधानिक प्रावधानों ने इस व्यवस्था की जकड़न को कमजोर किया, किंतु इसे पूरी तरह समाप्त नहीं कर सके। यही वह पृष्ठभूमि है, जिस पर आगे वैश्वीकरण और शहरीकरण ने जाति व्यवस्था के स्वरूप को चुनौती दी और नया रूप दिया।

वैश्वीकरण और जाति व्यवस्था का बदलता स्वरूप

भारत में 1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण (Liberalization, Privatization and Globalization) की नीतियों ने समाज के लगभग हर क्षेत्र को प्रभावित किया। जाति व्यवस्था भी इससे अछूती नहीं रही। पारंपरिक पेशागत बंधन और सामाजिक नियंत्रण में उल्लेखनीय परिवर्तन आया। हालाँकि, जाति का पूर्ण लोप नहीं हुआ बल्कि उसने नए रूप धारण कर लिए। इस परिवर्तन को हम तीन प्रमुख परिप्रेक्ष्यों में समझ सकते हैं—आर्थिक प्रभाव, शैक्षिक प्रभाव और सांस्कृतिक प्रभाव।

Caste Representation in Employment Sectors (Post-Globalization)



इस Pie Chart में तीन सेक्टर (Corporate, IT, Traditional Industries) में जातिगत प्रतिनिधित्व दिखाया गया है।

- Corporate और IT सेक्टर में उच्च जातियों और OBC का प्रतिनिधित्व अधिक है,
- जबकि पारंपरिक उद्योगों (जैसे कृषि, लघु उद्योग) में OBC, SC और ST वर्गों की उपस्थिति अपेक्षाकृत अधिक बनी हुई है।

इससे स्पष्ट होता है कि वैश्वीकरण के लाभ मुख्य रूप से उच्च जातियों और OBC वर्ग तक केंद्रित हुए, जबकि हाशिए पर रहने वाले वर्ग (SC/ST) अब भी संरचनात्मक असमानताओं से जूझ रहे हैं।

(क) रोज़गार और पेशागत विभाजन में परिवर्तन

वैश्वीकरण ने पारंपरिक पेशागत ढाँचे को कमजोर किया। बहुराष्ट्रीय कंपनियों, आईटी सेक्टर, सेवा उद्योग और स्टार्टअप संस्कृति ने योग्यता और दक्षता (merit and skills) को प्राथमिकता दी। अब जाति के बजाय “प्रोफेशनल क्वालिफिकेशन” पर रोज़गार निर्भर होने लगा। एम. एन. श्रीनिवास के शब्दों में, “नई अर्थव्यवस्था ने जाति आधारित पेशागत जड़ता को चुनौती दी” (Srinivas 1996, p. 89)।

(ख) आर्थिक अवसर और सामाजिक गतिशीलता

दलितों और पिछड़े वर्गों के लिए निजी क्षेत्र ने अवसर खोले, लेकिन यह आंशिक रहा। गैल ओम्वेड्ट लिखती हैं कि “वैश्वीकरण ने आर्थिक अवसर दिए, किंतु सामाजिक भेदभाव की संरचनाएँ अब भी

बरकरार हैं” (Omvedt 1994, p. 142)। उदाहरणस्वरूप, कॉर्पोरेट जगत में दलित-पिछड़े वर्गों की भागीदारी अभी भी न्यूनतम है।

(ग) असमानता का नया रूप

वैश्वीकरण ने एक नया “क्लास-आधारित विभाजन” भी पैदा किया, जिसमें जाति और वर्ग दोनों मिलकर असमानता को बनाए रखते हैं। दीपांकर गुप्ता कहते हैं, “नई अर्थव्यवस्था में जाति छिप तो जाती है, लेकिन नेटवर्किंग और सामाजिक पूँजी के स्तर पर यह सक्रिय रहती है” (Gupta 2000, p. 112)।

2. शैक्षिक प्रभाव

(क) उच्च शिक्षा तक पहुँच

वैश्वीकरण ने शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण और प्रोफेशनल कोर्सेज़ को बढ़ावा दिया। इंजीनियरिंग, मैनेजमेंट, आईटी और मेडिकल शिक्षा में पिछड़े वर्गों और दलितों की भागीदारी आरक्षण नीतियों और छात्रवृत्तियों के कारण बढ़ी। इसने जातिगत गतिशीलता के अवसर खोले (Deshpande 2011, p. 57)।

(ख) शिक्षा और पहचान का पुनर्निर्माण

शिक्षा ने जातिगत हीनता की भावना को चुनौती दी और नई पहचान का निर्माण किया। उदाहरणस्वरूप, दलित साहित्य और पिछड़े वर्गों की बौद्धिक अभिव्यक्ति ने जाति प्रश्न को सार्वजनिक विमर्श में नई जगह दी।

(ग) असमान पहुँच

हालाँकि शिक्षा के प्रसार से अवसर बढ़े, लेकिन डिजिटल डिवाइड और निजी शिक्षा की ऊँची लागत ने असमानताओं को भी बढ़ाया। ग्रामीण और गरीब जातियों को उच्च शिक्षा तक पहुँचने में अब भी कठिनाई होती है (Jodhka 2012, p. 76)।

3. सांस्कृतिक प्रभाव

(क) मीडिया और पॉपुलर कल्चर

वैश्वीकरण के साथ मीडिया और मनोरंजन उद्योग ने जातिगत विमर्श को नई दृष्टि दी। फ़िल्में जैसे *आर्टिकल 15* और दलित सिनेमा की उभरती परंपरा ने जातिगत भेदभाव को खुलकर सामने रखा। सोशल मीडिया ने जाति-विरोधी आंदोलनों को नई ऊर्जा दी (Guru 2009, p. 38)।

(ख) विवाह और रिश्ते

ऑनलाइन मैट्रिमोनियल साइट्स और शहरी जीवन ने अंतर्जातीय विवाहों की संभावनाएँ बढ़ाई। हालाँकि, दिलचस्प तथ्य यह है कि अधिकांश मैट्रिमोनियल साइट्स पर अब भी जाति फ़िल्टर मौजूद है। इससे पता चलता है कि जाति की पकड़ पूरी तरह ढीली नहीं हुई है, बल्कि नए माध्यमों में भी यह अनुकूलित हो रही है।

(ग) राजनीति और पहचान

वैश्वीकरण ने राजनीति में जाति की भूमिका को समाप्त नहीं किया, बल्कि जाति आधारित पहचान की राजनीति और मजबूत हुई। मंडल आयोग की सिफ़ारिशों के बाद पिछड़े वर्गों की राजनीतिक लामबंदी इसका उदाहरण है। योगेन्द्र यादव लिखते हैं, “भारतीय लोकतंत्र में जाति वैश्वीकरण के युग में भी वोटिंग पैटर्न और राजनीतिक प्रतिनिधित्व का निर्णायक आधार है” (Yadav 2001, p. 4127)।

स्पष्ट है कि वैश्वीकरण ने जाति व्यवस्था की पारंपरिक कठोरता को चुनौती दी, परंतु इसे समाप्त नहीं किया। आर्थिक रूप से पेशागत विभाजन टूटा, शिक्षा ने नए अवसर दिए और सांस्कृतिक स्तर पर जातिगत प्रश्नों को नया मंच मिला। फिर भी, जाति ने अपने को नए रूपों—नेटवर्किंग, राजनीति, विवाह और पहचान की राजनीति—में ढाल लिया है। यह आधुनिक भारत की

सबसे बड़ी विडंबना है कि वैश्वीकरण के दौर में भी जाति “अदृश्य” नहीं हुई, बल्कि नए सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचों में “दृश्य” होती रही।

शहरीकरण और जाति व्यवस्था का बदलता स्वरूप

भारत में बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से शहरीकरण की गति तेज़ हुई। उद्योगों, सेवा-क्षेत्र और शिक्षा-केंद्रों के विस्तार के कारण ग्रामीण आबादी बढ़े पैमाने पर शहरों की ओर पलायन करने लगी। शहर केवल रोज़गार और आधुनिक जीवन का प्रतीक ही नहीं बने, बल्कि वे एक ऐसे सामाजिक परिदृश्य भी बने जहाँ जातिगत संबंधों का पारंपरिक ढाँचा चुनौती के सामने आया। हालाँकि यह कहना जल्दबाज़ी होगी कि शहरी समाज जाति-मुक्त हो गया है। वस्तुतः शहरीकरण ने जाति व्यवस्था को नया रूप दिया है—कहीं उसे कमजोर किया, तो कहीं नई अभिव्यक्ति भी प्रदान की। इसको हम तीन आयामों में समझ सकते हैं—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव।

1. आर्थिक प्रभाव

(क) रोज़गार और नगरीय अवसर

शहरों में रोज़गार का वितरण गाँवों की तरह जातिगत नहीं रहा। उद्योग, व्यापार और कॉर्पोरेट क्षेत्र ने योग्यता को महत्व दिया। आंद्रे बेटेय लिखते हैं, “नगरीय अर्थव्यवस्था जाति की जकड़न को तोड़ती है, लेकिन इसे पूरी तरह खत्म नहीं करती” (Béteille 1991, p. 84)।

दलित और पिछड़े वर्गों के लिए शहरों ने नए अवसर खोले। ऑटो चालक, छोटे व्यापारी, ठेकेदार और नौकरीपेशा वर्ग में इनकी संख्या बढ़ी। आईटी और सेवा-क्षेत्र ने कुछ हद तक जातिगत पेशागत बंधन को कमजोर किया।

(ख) असमानता की निरंतरता

फिर भी, शहरों में जातिगत असमानता पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। आर्थिक अवसरों तक पहुँच में जातिगत भेदभाव परोक्ष रूप से दिखता है। उदाहरण के लिए, ऊँची जातियों के पास अधिक सामाजिक पूँजी (social capital) और नेटवर्किंग है, जिससे वे बेहतर

नौकरियों और पदों तक आसानी से पहुँचते हैं (Deshpande 2011, p. 64)।

2. सामाजिक प्रभाव

(क) नगरीय जीवन और जाति की अदृश्यता

शहरों में व्यक्ति की जाति अक्सर अदृश्य हो जाती है। मोहल्लों, अपार्टमेंट्स और दफ्तरों में जातिगत पहचान तुरंत दिखाई नहीं देती। यही कारण है कि शहरी जीवन को कई विद्वान जातिगत बंधनों से अपेक्षाकृत मुक्त मानते हैं। एम. एन. श्रीनिवास इसे “सेक्युलराइज़ेशन ऑफ कास्ट रिलेशन्स” कहते हैं (Srinivas 1996, p. 92)।

(ख) अंतर्जातीय संपर्क और विवाह

शहरों में विविध जातियों और धर्मों के लोग साथ रहते हैं। इससे अंतर्जातीय मित्रता और विवाह के अवसर बढ़े हैं। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS-5, 2020) के अनुसार, शहरी क्षेत्रों में अंतर्जातीय विवाहों की दर ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में लगभग दोगुनी पाई गई। लेकिन यह संख्या अभी भी बहुत कम है, जिससे स्पष्ट है कि जाति ने अपनी पकड़ पूरी तरह नहीं छोड़ी।

(ग) जाति का नया रूप: नेटवर्किंग और रिश्तेदारी

हालाँकि शहरों में जाति प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखती, लेकिन विवाह-समारोह, जातिगत संघों और मैट्रिमोनियल वेबसाइट्स पर इसका प्रभाव बना हुआ है। दिलचस्प तथ्य यह है कि शहरों में जाति अब “पहचान” और “नेटवर्किंग” का माध्यम बन गई है।

3. राजनीतिक प्रभाव

(क) नगरीय राजनीति और जातिगत लामबंदी

शहरों में जाति-आधारित वोट बैंक की राजनीति अब भी उतनी ही मज़बूत है। नगर निगम चुनावों से लेकर विधानसभा तक, राजनीतिक दल जातिगत समीकरणों को ध्यान में रखते हैं। योगेन्द्र यादव लिखते हैं कि “नगरीय राजनीति में जाति एक ऐसी स्थायी धुरी है, जिस पर चुनावी गठजोड़ और रणनीतियाँ घूमती हैं” (Yadav 2001, p. 4129)।

(ख) जाति-आधारित संगठन और आंदोलनों का शहरी रूप

दलित और पिछड़े वर्गों के संगठन जैसे बहुजन समाज पार्टी या विभिन्न जाति-आधारित संघ अब शहरों में भी सक्रिय हैं। छात्र संगठनों और शहरी आंदोलनों ने जाति प्रश्न को राष्ट्रीय राजनीति के केंद्र में ला दिया है।

शहरीकरण ने जाति व्यवस्था को गहरा झटका दिया, लेकिन यह कहना गलत होगा कि उसने इसे समाप्त कर दिया। आर्थिक स्तर पर अवसर बढ़े, सामाजिक स्तर पर जाति की दृश्यता कम हुई और अंतर्जातीय संबंधों की संभावना बढ़ी। किंतु राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर जाति ने अपने नए रूप गढ़ लिए हैं। आज के शहरी समाज में जाति “सार्वजनिक जीवन” से पीछे हटकर “निजी जीवन” और “पहचान की राजनीति” में अधिक सशक्त दिखाई देती है। यही इस विडंबना का प्रमाण है कि आधुनिक शहर, जो समानता और अवसरों का प्रतीक माने जाते हैं, वहाँ भी जाति की छाया बनी रहती है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical

Evaluation) : अब तक की चर्चा से यह स्पष्ट है कि वैश्वीकरण और शहरीकरण ने जाति व्यवस्था को कई स्तरों पर चुनौती दी है, परंतु यह भी उतना ही सत्य है कि जाति व्यवस्था भारतीय समाज से समाप्त नहीं हुई। बल्कि उसने अपने स्वरूप को नया रूप देकर आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लिया है। आलोचनात्मक दृष्टि से हम इसे तीन प्रमुख स्तरों पर देख सकते हैं—विरोधाभास, अवसर और चुनौतियाँ।

1. विरोधाभास (Contradictions)

1. आर्थिक अवसर बनाम सामाजिक पूँजी

- वैश्वीकरण ने नए रोज़गार और व्यवसायिक अवसर खोले, परंतु ऊँची जातियों के पास पहले से मौजूद नेटवर्किंग और संसाधनों के कारण वे इन अवसरों का अधिक लाभ उठा पाईं।
- दलित और पिछड़े वर्गों को आरक्षण नीति से शिक्षा और नौकरियों में जगह मिली, लेकिन निजी क्षेत्र में अभी भी इनकी हिस्सेदारी बहुत कम है (Deshpande 2011, p. 78)।

2. नगरीय अदृश्यता बनाम सांस्कृतिक स्थिरता

- शहरों में जाति का प्रत्यक्ष नियंत्रण कमजोर हुआ, किंतु विवाह, रिश्तेदारी और सांस्कृतिक आयोजनों में यह अब भी सक्रिय है।
- *मैट्रिमोनियल साइट्स* इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, जहाँ आधुनिक तकनीक के बावजूद जातिगत फ़िल्टर का उपयोग होता है।

3. राजनीतिक लामबंदी बनाम सामाजिक समानता

- लोकतंत्र ने जाति को प्रतिनिधित्व और शक्ति दी, लेकिन यह प्रतिनिधित्व प्रायः “जाति की राजनीति” में सिमट गया।
- जाति आधारित संगठन और वोट बैंक राजनीति ने जाति के विघटन के बजाय उसके नए रूप को मज़बूत किया (Yadav 2001, p. 4132)।

2. अवसर (Opportunities)

1. शिक्षा और सामाजिक गतिशीलता

- शिक्षा ने निचली जातियों को ऊपर उठने के अवसर दिए।
- आईटी और प्रोफेशनल सेक्टर ने जाति की बाधाओं को कमजोर किया।

2. मीडिया और जन-जागरूकता

- सोशल मीडिया ने जातिगत भेदभाव को चुनौती दी और दलित-बहुजन विमर्श को नया मंच दिया।
- फ़िल्म, साहित्य और कला ने जातिगत प्रश्नों को राष्ट्रीय बहस का हिस्सा बनाया।

3. चुनौतियाँ (Challenges)

1. गाँव और शहर का अंतर

- ग्रामीण समाज में जाति की जकड़न अब भी मज़बूत है।
- शहरों में यह अदृश्य रूप में मौजूद रहती है, जिससे सामाजिक समानता अधूरी रह जाती है।

2. आर्थिक असमानता

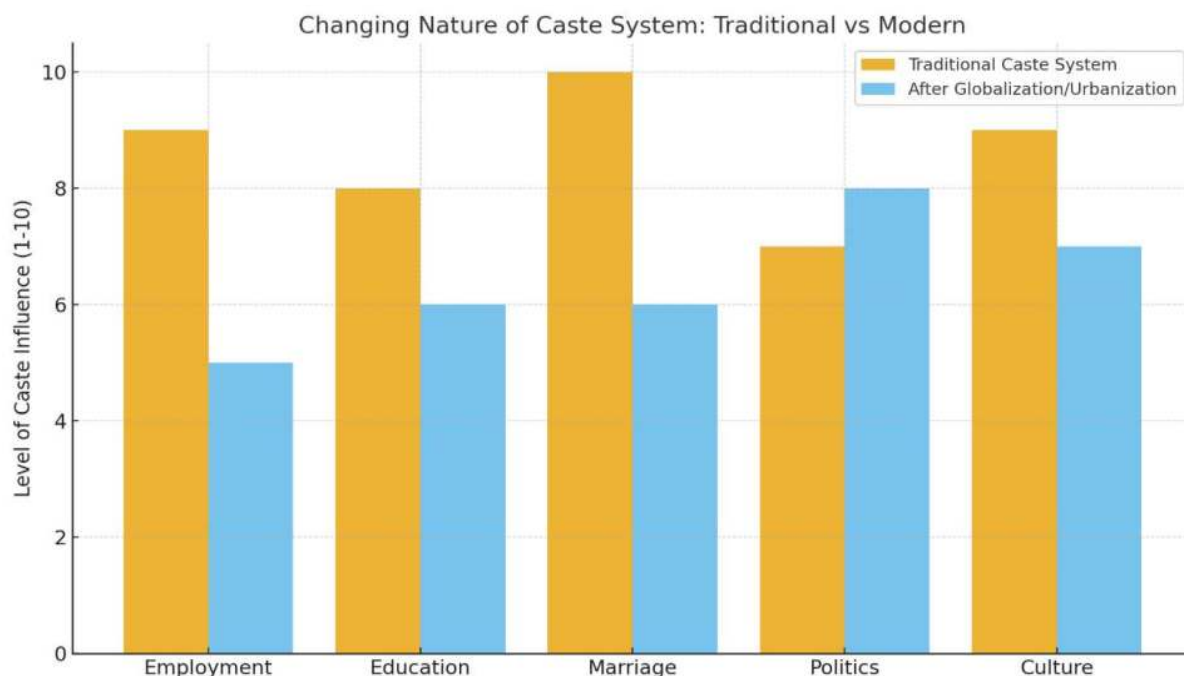
- वैश्वीकरण ने “क्लास-आधारित असमानता” बढ़ाई, लेकिन जाति और वर्ग मिलकर दोहरी असमानता पैदा करते हैं।

3. राजनीतिक ध्रुवीकरण

- जाति आधारित राजनीतिक संगठन कई बार सामाजिक न्याय की दिशा में आगे बढ़ने के बजाय जातिगत ध्रुवीकरण को गहरा कर देते हैं।

तुलनात्मक सारणी (Table)

पहलू	पारंपरिक जाति व्यवस्था	वैश्वीकरण/शहरीकरण के बाद जाति व्यवस्था
आधार	जन्म और पेशा	योग्यता, शिक्षा, लेकिन जाति परोक्ष रूप में मौजूद
रोज़गार	पेशागत विभाजन (वंशानुगत व्यवसाय)	कॉर्पोरेट/सेवा क्षेत्र में अवसर, फिर भी असमानता
विवाह	अंतर्जातीय विवाह वर्जित	अंतर्जातीय विवाह बढ़े, लेकिन जातिगत फ़िल्टर सक्रिय
सामाजिक स्थिति	कठोर ऊँच-नीच	अपेक्षाकृत लचीली, परंतु नेटवर्किंग में जाति मौजूद
राजनीति	सीमित सहभागिता	प्रतिनिधित्व बढ़ा, परंतु जातिगत वोट बैंक मज़बूत
संस्कृति	धार्मिक वैधता और परंपरा	मीडिया और कला में जाति विमर्श, पहचान की राजनीति



उपरोक्त बार चार्ट एवं सारणी से यह स्पष्ट रूप से दिखाता है कि पारंपरिक जाति व्यवस्था में रोज़गार, शिक्षा और विवाह पर जाति का प्रभाव बहुत गहरा था, जबकि शहरीकरण और वैश्वीकरण के बाद यह प्रभाव कम हुआ है। हालाँकि राजनीति और संस्कृति में जातिगत प्रभाव आज भी अपेक्षाकृत मज़बूत है।

स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था की पारंपरिक कठोरता टूट चुकी है, लेकिन उसका प्रभाव अब भी भारतीय समाज की संरचना में व्याप्त है। वैश्वीकरण और शहरीकरण ने जाति को अदृश्य, लचीला और प्रतीकात्मक रूप दिया है। यह विडंबना है कि एक ओर शिक्षा, रोज़गार और नगरीय जीवन ने जाति को कमजोर किया, वहीं राजनीति, संस्कृति और पहचान की राजनीति ने इसे नया जीवन भी प्रदान किया।

निष्कर्ष : भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का इतिहास हजारों वर्षों पुराना है। यह व्यवस्था सामाजिक संगठन, धार्मिक मान्यता और आर्थिक संरचना का आधार रही। किंतु स्वतंत्रता के बाद संवैधानिक प्रावधानों, शिक्षा के प्रसार और सामाजिक सुधार आंदोलनों ने इसके पारंपरिक स्वरूप को गहरी चुनौती दी। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में आए

वैश्वीकरण और शहरीकरण ने इस चुनौती को और तीव्र बना दिया।

इस शोध-पत्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि—

1. **आर्थिक स्तर पर,** वैश्वीकरण ने जातिगत पेशागत विभाजन को कमजोर किया और योग्यता व दक्षता को अधिक महत्व दिया। लेकिन, ऊँची जातियों के पास मौजूद सामाजिक पूँजी और नेटवर्किंग ने अवसरों की समानता को बाधित किया।
2. **शैक्षिक स्तर पर,** आरक्षण नीतियों और प्रोफेशनल शिक्षा तक पहुँच ने पिछड़े वर्गों और दलितों को नई संभावनाएँ दीं। शिक्षा ने जातिगत हीनता की भावना को चुनौती दी और सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाया।
3. **सांस्कृतिक स्तर पर,** मीडिया, साहित्य और कला ने जातिगत प्रश्नों को सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनाया। फिर भी, विवाह और पारिवारिक रिश्तों में जातिगत बंधन अब भी मज़बूत हैं।
4. **शहरी जीवन ने,** जातिगत पहचान को आंशिक रूप से अदृश्य बना दिया, परंतु राजनीति और

पहचान की राजनीति ने इसे नए रूप में सक्रिय कर दिया।

अतः यह कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था न तो पूरी तरह समाप्त हुई है और न ही पूरी तरह जस की तस बनी हुई है। उसने स्वयं को नए सामाजिक-आर्थिक संदर्भों के अनुसार ढाल लिया है। आज जाति का स्वरूप कठोर, धार्मिक और पेशागत बंधनों से हटकर नेटवर्किंग, पहचान और राजनीति के नए आयामों में प्रकट हो रहा है।

इस अध्ययन का व्यापक निष्कर्ष यही है कि वैश्वीकरण और शहरीकरण ने जाति व्यवस्था को कमजोर किया, परंतु इसने उसकी प्रासंगिकता को समाप्त नहीं किया। जाति आज भी भारतीय समाज की संरचना, राजनीति और संस्कृति में गहराई से उपस्थित है। इसलिए भविष्य में भी जाति प्रश्न भारतीय लोकतंत्र और समाजशास्त्र की केंद्रीय बहस बना रहेगा।

References :

1. Ambedkar, B. R. (1936). *Annihilation of Caste*. Bombay: Arnold Publishers. pp. 23, 44.
2. Austin, G. (1999). *Working a Democratic Constitution: The Indian Experience*. Delhi: Oxford University Press. p. 63.
3. Béteille, A. (1991). *Society and Politics in India: Essays in a Comparative Perspective*. London: Athlone Press. pp. 76, 84, 102.
4. Deshpande, S. (2011). *Contemporary India: A Sociological View*. New Delhi: Penguin Books. pp. 57, 64, 78.
5. Dumont, L. (1970). *Homo Hierarchicus: The Caste System and Its Implications*. Chicago: University of Chicago Press. p. 35.
6. Gupta, D. (2000). *Interrogating Caste: Understanding Hierarchy and Difference in Indian Society*. New Delhi: Penguin Books. pp. 78, 112.
7. Guru, G. (2009). *Humiliation: Claims and Context*. New Delhi: Oxford University Press. p. 38.
8. Jodhka, S. S. (2012). *Caste*. New Delhi: Oxford India Short Introductions. p. 76.
9. Omvedt, G. (1994). *Dalits and the Democratic Revolution: Dr. Ambedkar and the Dalit Movement in Colonial India*. New Delhi: Sage Publications. pp. 57, 142.
10. Srinivas, M. N. (1966). *Social Change in Modern India*. Berkeley: University of California Press. pp. 12, 45, 89, 92.
11. Yadav, Y. (2001). *Understanding the Second Democratic Upsurge: Trends of Bahujan Participation in Electoral Politics in the 1990s*. *Economic and Political Weekly*, 36(33), 4132–4139. pp. 4125, 4127, 4129, 4132.

•